वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

February-2025

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

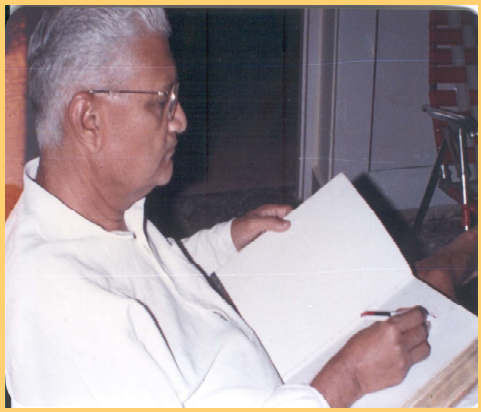

अहो! धर्मात्माकी देहातीत दशा!!

– पूज्य भाईश्री शशीभाई

यहाँ इस वचनामृतमें (पूज्य बहिनश्रीने) अपने निजी जीवन परसे कोई बात बोली हो वह लिखी गई है कि, शरीरका रोग मिटना हो तो मिटे, परन्तु उसके लिए प्रवृति नहीं सुहाती। इसके इलाज़में ऐसा करूँ, वैसा करूँ, यह दवाई चाहिए, डॉक्टर चाहिए, यह..वह.. ऐसी कोई धमा–धम पसंद नहीं। रोग है वह अपने स्वकालमें आया है और अपने स्वकालमें चला जायेगा। इससे आत्माको इंच भी नुकसान नहीं है। शरीरमें रोगकी उत्पत्तिसे आत्माको ज़रा–सा भी नुकसान नहीं होता। सारा जगत रोगको नुकसानका कारण मानता है, ज्ञानी नहीं मानते। आत्माको इससे नुकसान नहीं। उलटा देखा जाये तो तब पूर्वकर्मका हिसाब–किताब चुकता हो जाता है, लेन–देन खत्म होता है, वह खाता सरबसर हो जाता है। फिर इसमें नुकसान क्या हुआ? अपने सिर पर जो कर्ज़ था वह बोझ हलका हुआ, उतना बोझरहित हुआ। अतः शरीरका रोग मिटानेकी प्रवृत्ति भी नहीं सुहाती है। दूसरी प्रवृत्तिको छोडिये जैसे कभी खाने–पीनेकी प्रवृत्ति बोझ लगती है। क्योंकि वह भी क्षुधा नामक रोगका उपचार ही है। आहारग्रहण है सो क्षुधारोगका उपचार है। जैसे दूसरे–दूसरे रोगके लिये दवाई खाना उपचार है, वैसे आहार लेना भी एक प्रकारकी दवाई ही है, और कुछ नहीं। ऐसी प्रवृत्ति भी नहीं सुहाती।

अब देखिये! लौकिक और अलौकिक परिणमनमें बहुत बड़ा फर्क होता है! आमतौर पर लोगोंको खानेमें अधिकसे अधिक विविध प्रकारके स्वादिष्ट व्यंजन होते हैं तब ऐसा लगता है कि, बहुत बढ़िया! अरे! ये तो बहुत बढ़िया है – ऐसे काफ़ी हद तक संतोष व तृप्ति होती है। हालाँकि वैराग्यवान जीवकी, ज्ञानीकी बात ही कुछ और है (उनका तो) परिणमन ही अलौकिक होता है, अपितु वैराग्यवान जीवको भी अनेक प्रकारके स्वादिष्ट व्यंजनोंमें उपयोगको घुमाना पड़े, पहले यह खाये, बादमें यह फिर तुरंत यह लेना क्योंकि सिर्फ चटनी तो नहीं पी जाती। उसे तो कोई न कोई चीज़के साथ ही लेना पड़े। अकेला आचार तो कोई खाया नहीं जाता, जैसे चलो पहले सिर्फ सब्ज़ी खालो, फिर अकेला आचार खालो, फिर अकेला पापड़ खालो। कुछ न कुछ तो साथमें ही लेनेकी पद्धति है। तो इसमें उपयोगकी चंचलता बढ़ती है, अनेक विषयोंमें उपयोगको घुमाना पड़ता है – वह उन्हें पसंद नहीं है।

मुमुक्षु :– वास्तवमें आहार दवाईके स्थानमें लेना था, इसमेंसे बहुत विभिन्न प्रकारके व्यंजन बना लिये।

पूज्य भाईश्री :– हाँ, वह तो केवल पेटका खड्ढा भरनेकी बात है, परन्तु इसमें भी रागी जीवोंने अनेकों प्रकारसे इसकी एक दुनिया ही खड़ी कर दी है ऐसा कहना ग़लत नहीं होगा। जैसे जितना अधिक मिश्रण उतनी मानों स्वादकी अधिकता! अब तो लोग यह भी नहीं देखते हैं कि इससे कोई विरुद्ध आहार तो नहीं हो जाता? विज्ञानकी दृष्टिसे जिसको विरुद्ध आहार कहते हैं इसका विचार भी छूट जाता है। जितना अधिक कर सकते हो करो! क्यों? क्योंकि उसकी जो परिग्रह संज्ञा है, ग्रहण करनेकी संज्ञा है उस इच्छामें तो जीवको सारा जगत चाहिए, कुछ नहीं छोड़ना। इसलिए जितना ज्यादा खा सके खालो! परोसनेवाले भी आग्रह करेंगे.. और थोड़ा लीजिये! और लीजिये! कितना भी खायेगा तो भी कहेंगे थोड़ा और लीजिये! हालाँकि पेटमें ज्यादा डालनेसे

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १५ पर..)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५१, अंक-३२६, वर्ष-२७, फरवरी-२०२५

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके श्री 'परमागमसार'में से चुने हुए कहानरत्न किरणें

विकारी पर्याय परद्रव्यकी सन्मुखता करती है अतः विकारको द्रव्यसे भिन्न कहा और शुद्ध पर्याय स्वद्रव्यके सन्मुख होती है इसलिए शुद्ध पर्यायको द्रव्यके अभिन्न कहते हैं । पर अभिन्नताका अर्थ यह है कि द्रव्यकी जितनी सामर्थ है - शक्ति है यह ज्ञानपर्यायमें आ जाती है, प्रतीतिमें आ जाती है, इस कारण शुद्ध पर्यायको द्रव्यसे अभिन्न कहा है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनित्य पर्याय नित्य द्रव्यके साथ एकमेक हो जाती है । द्रव्य व पर्याय दोनोंका स्वरूप ही भिन्न होनेसे दोनों भिन्न हैं। पर्याय द्रव्यका आश्रय करती है, लक्ष करती है इससे पर्याय शुद्ध होती है परन्तु इससे द्रव्य व पर्याय एक हो जाते हैं - ऐसा नहीं, दोनोंका स्वरूप भिन्न होनेसे पर्याय द्रव्य रूप नहीं होती और द्रव्य पर्याय रूप नहीं होता । ३०

*

प्रश्न :- अनुमान ज्ञान द्वारा आत्माका निर्णय करे, वह अनुमान ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलायेगा?

उत्तर :- अनुमान ज्ञानको सम्यक् ज्ञान नहीं कहते । सम्यक् ज्ञानके साथ आनन्द होता है- आनन्द सहितके ज्ञानको सम्यक् ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष पूर्वकका अनुमान ज्ञान हो तो वह

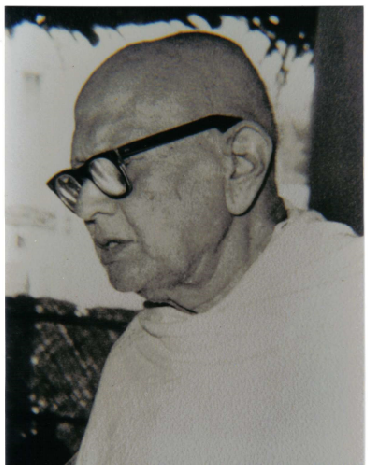

सम्यक् ज्ञान कहलाता है। प्रत्यक्ष रहित केवल अनुमान ज्ञान-वह सम्यक् ज्ञान नहीं है । प्रवचनसारमें गाथा १७२ अलिंगग्रहणके बोलमें कहा है कि प्रत्यक्ष रहित अकेले अनुमान ज्ञानका विषय आत्मा नहीं है । ३१

*

प्रश्न :- आत्म सन्मुख होने की विधि क्या है ?

उत्तर :- जो पर ओर देखता है वह स्व ओर देखे तो स्वसन्मुख होता है । अनन्त-अनन्त ज्ञानान्द सामर्थवाली वस्तु, उसका जैसा और जितना महात्म्य है वैसा और उतना महात्म्य उसके ज्ञानमें आवे तो वह ज्ञान स्वसन्मुख हो सके। ३२

चैतन्य आत्मासे प्रेम करना, निर्विकल्प शान्ति द्वारा आत्माको देखना – वह धर्म है। भगवान (आत्मा) देहकी तरह अपवित्र नहीं है। आनन्दरस प्रभु है पर उसकी खबर ही नहीं, इसलिए बाहर ही भटकतें हैं मानो यात्रासे अथवा पूजासे वह मिल जायेगा । भगवान अन्तरमें विराजते हैं किन्तु (अज्ञानी) उन्हें बाहर विकल्पों और रागकी क्रियामें खोजते हैं। ३३

*

आत्मा जैसा और जितना महान पदार्थ है उतना महान मानना ही आत्माकी दया पालने रूप समाधि है । और ऐसे महान आत्माको रागादिरूप मानना अथवा मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना वह आत्माकी हिंसा है । ३४

*

अज्ञानी आगम-पद्धतिको जानता है परन्तु अध्यात्म-पद्धतिके व्यवहारको नहीं जानाता । वह कर्मफल-चेतनारुप वस्तुको श्रद्धेय करता है परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतना रूप वस्तुको श्रद्धेय नहीं कराता। कारण कि वह सदा ही स्वपरके भेद-विज्ञान करनेके अयोग्य है जिससे कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके कारणभूत ज्ञान मात्र-ऐसे भूतार्थ धर्मको श्रद्धेय नहीं करता । भोगके हेतुभूत शुभ कर्मको ही धर्म जानकर श्रद्धान करता है । ३५

*

चौथे गुणस्थानमें विषय-कषायके परिणाम होने पर भी वे सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते और सम्यग्दर्शनके अभावमें अनन्तानुबन्धि आदि कषायकी मन्दता होने पर भी मिथ्यात्वका पाप बन्ध करता है – क्योंकि उसे स्वभावका आश्रय नहीं होता है । किसीको (सम्यग्दृष्टिको) (अप्रत्याख्यान) कषायकी बहुत तीव्रता होने पर भी उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । किसीको बारह अंगका ज्ञान हो उससे सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो व किसीका क्षयोपशम अल्प हो तो सम्यग्दर्शनमें निर्मलता न्यून हो – ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनके परिणाम आत्माके आश्रयसे स्वतंत्र प्रगट होते हैं । विषय-कषायके परिणाम सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते परन्तु (उनके कारण) विशेष स्थिरता (निर्मलता) नहीं हो सकती है । ३६

*

प्रश्न :- शास्त्रसे आत्माको जाना और पश्चात् परिणाम आत्मामें लीन हो-ईन दोनोंमें आत्माको जाननेमें क्या अन्तर है ?

उत्तर :- शास्त्रसे जाना – यह तो साधारण धारणारूप जानपना है परन्तु आत्मामें मग्न होकर अनुभव (होता है) इसमें तो आत्माको प्रत्यक्ष वेदनसे जानते हैं । इसलिये इन दोनों में बहुत अन्तर है, अनन्तगुणा अन्तर है । ३७

*

जब कोई तीव्र प्रतिकूलता आ पडे, कोई अतिकठोर, मर्मछेदक वचन कहे तो त्वरासे देहमें स्थित परमानन्द स्वरूप परमात्माका ध्यान कर देहका लक्ष छोड़ देना समताभाव रखना।३८

*

रागसे भिन्न आत्माका एकत्व अन्तरमें सदाकाल प्रकाशमान है परन्तु दृष्टिमें रागसे एकत्व होनेसे वह ढ़क गया है जिससे दिखनेमें नहीं आता । राग है वह मैं हूँ शुभ रागसे मुझे लाभ होता है – यह मान्यता ही आत्माका अत्यन्त अहित करनेवाली है, विसंवाद पैदा करनेवाली है, आत्माका बुरा करनेवाली है । ३९

*

पुरुषार्थसिद्धिउपायमें कहा है कि जो जीव व्यवहारको ही पकड़ता है वह देशना झेलने योग्य नहीं है क्योंकी हमें बतलाना तो है परसे भिन्न आत्माके एकत्वरूप निश्चयको, पर वह निश्चय स्वरूपको तो ग्रहण नहीं करता और अकेले व्यवहारको ही पकड़ता है अतः देशना झेलनेका पात्र नहीं है । ४०

*

अज्ञानी सुखको तो इच्छता है परन्तु उसे सच्चे सुखके उपायका भान ही नही । ज्ञान नहीं है इसलिये दुःखके उपायको ही सुख जान-जानकर दुःखमे डूब मरता है । अहा ! सुखके सच्चे उपायके भान बिना सुख नहीं मिलता इसलिये सुखी होनेके इच्छुकको सुखका सच्चा उपाय क्या है, यह जानना परमावश्यक है । ४१

*

सम्पूर्ण सिद्धांतका एकमात्र सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना ही है । श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि "उपजे मोह विकल्पसे समस्त यह संसार, अन्तर्मुख अवलोकतां विलय होय नहि वार" - ज्ञानीके एक वचनमें भी अनन्त गम्भीरता भरी होती है। अहो ! भाग्शाली होंगे उन्हें ही इस तत्त्वमें रस आयेगा और तत्त्वके संस्कार गहरे पडेंगे । ४२

*

समयसार गाथा ४५ में आठ कर्मोंके फलको दुःख रूप कहा है । साताके फलको भी दुःखरूप कहा है । जिन्हें चारगतिमें दुःख ही दुःख लगा हो उनके लिये यह बात है। प्रतिकूलतासे दुःख लगे ऐसा नहीं बल्कि स्वर्ग भी जिन्हें दुःखरूप लगता है उनके लिये यह आत्महितकी बात है । ४३

*

लहसुन - प्याजकी गांठकी एक राई जितनी कणीमें असंख्य औदारिक शरीर होते हैं और एक शरीरमें अनन्त जीव होते हैं ऐसे तो तूने अनन्त भव किये । ये कैसे किये ? कि आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी वस्तु है, आत्मा जैसी वस्तु है वैसी की वैसी न भासी और उसके विरुद्ध भाव रूप मैं हूँ, पुण्य पापके विकार रूप मैं हूँ ऐसा मानकर उसके फलमें ऐसे अनन्त भव किये हैं। ४४

*

(आत्मा) वस्तु जो ज्ञानान्द सहजानन्द प्रभु है उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है । उसे रागका होना नहीं भासता अर्थात् राग मेरा है ऐसा उसे नहीं भासता । राग संबंधित जो स्वयंका ज्ञान है उस ज्ञानका होना भासता है । स्वयंका ज्ञान व रागका ज्ञान वह ज्ञानरूप भासता है परन्तु विकार रूप नहीं भासता । ४५

*

इस नियमसार शास्त्रकी टीकामें कहे हुए भावोंका-वस्तुस्वरूपका-निरूपण हमने नया नहीं किया है । परन्तु गणधर आदि श्रुतघरोंकी परंपरासे चला आता है । ऐसे इस परमागममें ऐसा कहा है कि कारणपरमात्मा ही निश्चय आत्मा है और कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्गका हेतु है। यहाँ त्रिकाली परमपारिणामिक भावको ध्येय बतलाना है, अतः प्रकट होती मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्यायको भी परद्रव्य और परस्वभाव बतलाकर आश्रय करने योग्य नहीं - ऐसा कहा है। जैसे परद्रव्यके आश्रयसे निर्मल पर्याय प्रकट नहीं होती, वैसे ही निर्मल पर्यायके आश्रयसे भी नवीन निर्मल पर्याय प्रकट नहीं

होती – इस कारणसे उसे परस्वभाव और परद्रव्य कहा है । यहाँ भगवानकी गद्दी पर बैठकर अन्तरसे जो बात निकलती है वह परमात्माकी कही हुई (बात) आती है । आज यहाँ बैठते ही विचार आया था कि प्रभु! यह बात आपकी ही है । ४६

*

(समयसार) संवर अधिकारमें तो ऐसा कहा है कि जाननक्रिया आधार है और द्रव्य उसका आधेय है । वहाँ आश्रयकी (अवलम्बनकी) बात नहीं है । परन्तु जिसमें जाना जाता है उस अपेक्षाकी मुख्यतासे वहाँ बात है । ध्रुव वस्तु स्वयं ध्रुव वस्तुको नहीं जानती है परन्तु पर्यायमें ध्रुव वस्तु जाननेमें आती है । कार्यमें कारणका ज्ञान होता है, ऐसा दर्शाया है । वैसे ही यहाँ भी ऐसा कहा है कि स्वानुभूतिसे वस्तु प्रकाशमान होती है अर्थात् अनुभूतिकी पर्यायमें ध्रुववस्तु जाननेमें आती है । परन्तु अनुभूतिकी अर्थात् पर्यायपर दृष्टि करनेसे ध्रुव वस्तु प्रकाशमान होती है ऐसा यहाँ नहीं कहना है । निर्मल पर्याय वस्तुका आश्रय करती है, तब उस निर्मल पर्यायमें वस्तु जानी जाती है।पर्याय जाननेवाली होनेसे पर्याय द्वारा द्रव्य प्रकाशमान होता है, ऐसा कहा है। ४७

*

द्रव्यदृष्टिके विषयभूत आत्मद्रव्यको सम्यक् प्रकारसे समझने हेतु ही आचार्यदेवने नयोंका अधिकार लिखा है । प्रमाणज्ञानके विषयभूत जो द्रव्य–गुण–पर्याय सहितका आत्मा–उसके यथार्थ ज्ञान बिना शुद्ध–द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत द्रव्यसामान्यका अवलम्बन किस प्रकार लेंगे ? द्रव्य–गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही हैं परन्तु योग्यता रूप अनन्तधर्म हैं ऐसा जानकर त्रिकाली वस्तुभावको मुख्य कर उसका अवलम्बन लेना – यह इन नयोंके कथनका प्रयोजन है । ४८

*

ईश्वरनयका तात्पर्य ऐसा है कि तूने तेरी स्वतंत्रता द्वारा ही परवश होने रूप, परतंत्रताको जन्म दिया है, इसलिये उस परवशताको भी तूँ तेरी स्वतंत्र सामर्थ्य द्वारा नाश कर सकता है। तेरी परतंत्रताके नाश हेतु तुझे परकी और बैठे बैठे देखते रहना पड़े – ऐसा नहीं है । ४९

*

स्वयं विकाररूप रागरूप परिणमता था उसका स्वतंत्र रूपसे नाश करने योग्य धर्मका धारक आत्मद्रव्य है । जैसे स्वयं कर्मके वश होकर विकाररूप परिणमनेका एक धर्म है वैसे ही विकारको नाश करनेकी स्वतंत्र सामर्थ्य भी जीवकी स्वयंकी ही है । विकारको स्वतंत्रतासे नाश करनेका धर्म भी जीवने धारण कर रखा है । कर्मका उदय निर्बल पड़े तब विकारका नाश कर सके अथवा कर्म–प्रकृति क्षीण हो–तब जीव पुरुषार्थ कर सके – यह बात बिलकुल मिथ्या है । ५०

*

नय श्रुतज्ञान प्रमाणका अंश है। प्रमाणज्ञानको प्रमाणिकता तब और तो ही प्राप्त होती है कि जब अन्तरदृष्टिमें विभाव और पर्यायके भेदोंसे रहित शुद्धात्मद्रव्यरूप ध्रुवकी श्रद्धाके अवलंबनकी उग्रता निरंतर वर्तती हो। ज्ञानीको ध्रुवस्वभावके अवलंबनका बल सदैव वर्तता होनेसे उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है। ५१

*

शुद्ध चैतन्यध्रुके ध्यानसे जिसे सम्यक्ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे जीवको ऐसी पर्यायरूप योग्यताएँ होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है।

परन्तु उन उन धर्मोंके ज्ञानसे अथवा उनके अवलम्बनसे सम्यक् दर्शन होता है, ऐसा नहीं है । ऐसे विविध धर्मोंके ज्ञान होने पर साधक जीवको त्रिकाल चैतन्यमूर्ति ध्रुवका – द्रव्य स्वभावका – ही अवलम्बन होता है । ५२

*

अहो ! संतजन कितनी करुणापूर्वक ऐसे गहन विषयको समझा रहे हैं । ज्ञानसे मुक्ति होती है , यह बात सत्य है परन्तु यह ज्ञान भी पर्याय है अतः वह केवल जानने योग्य है। ध्यानके विषयमें विवेकको – ज्ञानको (पर्यायको) नहीं लेना है । ध्यानका विषय तो अखण्ड चिदानन्द स्वरूप त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है । मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्यायोंका भी जिसमें अभाव है ऐसा शुद्ध चैतन्यद्रव्य ही साधकका ध्येय है, उसके आश्रयसे ही मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और उससे ही मुक्ति प्राप्त होती है। ५३

*

प्रश्न :– (व्यवहार और निश्चय) दो नयोंको जाननेके लिये कहा है न ?

उत्तर :– जानना – यह तो ज्ञानका स्वभाव है । जानने हेतु ही सब नय कहे हैं । परन्तु धर्मरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिये तो एकरूप त्रिकालीध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्य द्रव्य ही आश्रय करने योग्य है, जानने के विषय में उपादेयता मान लेनेसे दृष्टिकी विपरीतता होती है । ५४

*

(प्रत्येकका) देह छूटनेका काल प्रतिसमय नजदीक आ रहा है । जो यथार्थरूपसे इस देहको नहीं छोड़ता, तो देह छूटनेके समय सचमुच तो इसने देहको नहीं छोड़ा, परन्तु देहने इसको छोड़ा है । आगममें जैसा वस्तुस्वरूप कहा है उसके सम्यक् निर्णयके बिना यह यथार्थरूपसे देहको नहीं छोड़ सकेगा । ५५

*

तेरे स्वभावके अतिरिक्त भाई ! तुझे अन्यत्र कहीं मिठास रह गई होगी तो यह तुझे चैतन्यकी मिठास लेने नहीं देगी । परकी मिठास तुझे चैतन्यकी मिठास (लेनेमें) विघ्न करेगी । इसलिये हे भाई ! विवेकपूर्वक परकी मिठास छोड़ । ५६

*

स्वयंके आनन्द–निधानको भूला हुआ और आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दको नहीं पाया हुआ संपूर्ण जगत भिखारी है क्योंकी धन आदि विषयोंके पास वह आनंदकी भीख मांगता रहा है। संतजन उसे संबोधते हैं कि अरे ! विषयोंके भिखारी ! तूँ तो चैतन्यराजा है, राजा होकर तूँ कैसे भिख माँगता है ? तेरेमें तो अतीन्द्रिय आनन्द–निधान भरा हुआ है, तूँ इन्द्रिय विषयोंसे भीख न माँग, तनिक तो शरमा । भिखारीपनेको छोड़कर तेरे आनन्द–निधानको संभालकर अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता बन । ५७

*

आनन्दरसके रसिया मुनि करुणासे ऐसा कहते हैं कि रे अन्धे ! तूँ अन्धा है क्योंकि जो प्रकट वस्तु तेरा आत्मस्वरूप है उसे तूँ नहीं देखता और तेरी नज़र पुण्य–पाप व उसके फलमें रहती है इसलिये अन्धा है । भले शास्त्र जानता हो और महाव्रतादिकी क्रिया पालता हो, पर तूँ अन्धा है, क्योंकि जिसमें अनन्त आनन्द व पूर्ण शान्ति भरी है उसे तूँ सँभालता नहीं – देखता नही। ५८

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक – ३३२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईका प्रवचन

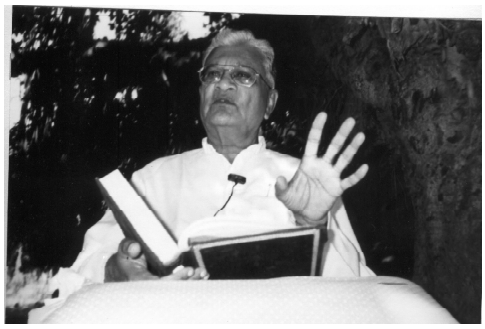

पत्रांक – ३३२

बंबई, फागुन सुदी ४, बुध, १९४८

आरंभ और परिग्रहका मोह ज्यों–ज्यों मिटता है, ज्यों–ज्यों तत्संबंधी अपनेपनका अभिमान मंदपरिणामको प्राप्त होता है; त्यों–त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है। अनंत कालसे परिचित यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं होता। इसलिये तन, मन, धन आदि जिनमें ममत्व रहता है उन्हें ज्ञानीको अर्पित किया जाता है; प्रायः ज्ञानी कुछ उन्हें ग्रहण नहीं करते, परंतु उनमेंसे ममत्वको दूर करनेका ही उपदेश देते हैं; और करने योग्य भी यही है कि आरंभ–परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमे पुनः पुनः विचार करके उनमें ममत्व न होने दे; तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक–३३२, पत्रा–३२५। अंबालालभाईके ऊपर लिखा हुआ पत्र है। इस पत्रका विषय मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिका सम्बन्धी है। *'आरंभ और परिग्रहका मोह ज्यों–ज्यों मिटता है, ज्यों–ज्यों तत्सम्बन्धी अपनेपनका अभिमान मंद परिणामको प्राप्त होता है; त्यों–त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है।'* मुमुक्षुता किस प्रकारसे है ? इस (विषयमें) बहुत प्रारंभिक बात की है। आरंभ और परिग्रहमें जो तीव्र रस आता है, उसका कारण 'अपनत्व' है। 'ये मेरा है, मेरे लाभका कारण है, मेरे सुखका कारण है, मेरी अनुकूलताका कारण है' – ऐसा जो अपनत्व है और तत्सम्बन्धित इष्टपनेका जो भाव है वह व्यामोह है – मोह है। ये परिणाम मंद हो, उसका रस मंद हो, इस प्रकार मुमुक्षुता वर्धमान हुआ करती है, ऐसा लिया है।

संसारी जीव जहाँ खड़ा है, जिनके बीच खड़ा है वहाँ वह तीव्र ममत्व करता है। तीव्र ममत्व करता है वही उसको खुदके (आत्मकल्याणकी) दिशा की ओर मुडनेमें प्रतिबंधक कारण है, अवरोधरूप कारण है। उसको (आत्मकल्याण करनेमें) कौन रोकता है? सामान्यतः किसी मुमुक्षुको पूछा जाये कि, 'भाई ! आत्मकल्याण करना है कि नहीं ?' तो उत्तर मिलेगा कि, 'आत्मकल्याण तो करना ही है न! उसमें प्रश्न ही कहाँ ऊठता है कि, आत्मकल्याण करना है कि नहीं करना है ? आत्मकल्याण तो सभीको करना ही होता है।' परन्तु ऐसी इच्छामात्रसे काम नहीं होता। खुद जहाँ खड़ा है–जिस स्थितिमें खड़ा है, उन संयोगोंमें खुद कितना ममत्व करता है, कितना अपनत्व करता है ! ममत्व करता है और कितना अपनत्वका भाव रखता है। ऐसे अपनत्वके परिणामोंका रस मंद हो – ये परिणाम मंदताको प्राप्त

हो तब मुमुक्षुता वर्धमान होती है। (जीव) एक ओरसे ममत्व करे, घर-दुकान पर जाकर तीव्र ममत्व करे और (दूसरी ओर) मंदिरमें आकर पूजा, भक्ति, स्वाध्याय करे ! (फिर ऐसा माने कि) हम तो दोनों करते हैं – जैसे आत्मकल्याणके लिये शास्त्र स्वाध्याय, पूजा,-भक्ति, दया-दान करते हैं, और संसारमें तो सब संसारके अनुरूप करना ही पड़ता है, करना भी चाहिये। करना पड़ता है माने करना चाहिये, करनेका फ़र्ज़ है (ऐसा मानकर चलता है)।

मुमुक्षु :- शास्त्र ऐसा कहता है, भूमिका अनुसार राग-द्वेष तो होते हैं न !

पूज्य भाईश्री :- भूमिका अनुसार तो राग-द्वेष होते हैं – यह भी शास्त्र कहते हैं और हमको भी हमारी भूमिका अनुसार होता है (ऐसा कहकर) अनुमोदन देता है। (और ऐसा मानता है कि मैंने) शास्त्रकारको अनुमोदन दिया ! (लेकिन क्या) शास्त्रकारको अनुमोदन दिया है ? शास्त्रकार तो ना देते हैं। (वे ऐसा कहते हैं कि) इस भूमिकासे तू आगे बढ़ ! तेरी जो मुमुक्षुकी भूमिका है, वह भूमिका वर्धमान हो, मुमुक्षुता वृद्धिगत हो, उसके लिये राग-द्वेष करनेका अनुमोदन अनुकूल नहीं है, वह तो प्रतिकूल परिणाम है। ऐसा तो हर कोई करता ही है। सामान्यरूपसे संसारमें साधारणत: हर कोई अपने – अपने संयोगमें – संग-प्रसंगमें अपनत्वके ममत्वभावसे ही वर्तते हैं। अब यदि मुमुक्षु भी ऐसा ही वर्तन करेगा तो दूसरे (संसारीमें) और उसमें क्या फर्क रहा ?

(कृपालुदेवने ३२२ पत्रमें) शीर्षक दिया है न ! *'लौकिकदृष्टिसे आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर अलौकिकदृष्टिसे कौन प्रवर्तन करेगा ?'* फिर कहीं और तो ये विषय है ही नहीं। आत्मामें आत्मत्व करना और आत्माके अलावा अन्य पदार्थोंमें आत्मत्व नहीं करना, यह कार्य इस प्रकार अस्ति-नास्तिसे करना है। अथवा मुमुक्षुता वर्धमान नहीं होती, बरसों बीत जाने पर भी खुद वहाँ का वहाँ है, ऐसा जो लगता है, इसका क्या कारण है ? अगर अवलोकन करे और जाँच करे तो उसको पता पड़े कि मैं मेरे संयोगोंमें अपनत्व करनेमें तो कोई फेरफार ही नहीं करता हूँ। जिस जगह (मुझे) फेरफार करना चाहिये वहाँ तो मैं कुछ फेरफार ही नहीं करता और दूसरा सब कुछ करता था वह सब कर ही रहा हूँ। जैसे कि ये शास्त्र पढ़ता हूँ, पूजा-भक्ति करता हूँ, दया-दान करता हूँ – ये सब तो करता ही हूँ। लेकिन ये सब व्यर्थ जाता है। ये जो कुछ भी किया जाता है वह तो बहुत अल्प मात्रामें किया जाता है, जबकि चौबीस घंटे ममत्वके जो तीव्र रसके परिणाम हैं, वे तो इतने सारे करता है कि, दोनोंका हिसाब-किताब अगर किया जाये तो (पूजा-भक्ति आदिके परिणाम) मानो जैसे कुछ है ही नहीं। (ममत्वके परिणामके सामने) मुकाबला कर सके ऐसी बात ही नहीं है।

मुमुक्षु :- ये बात तो स्मृतिमें भी नहीं रहती।

पूज्य भाईश्री :- इसका अर्थ यह हुआ कि (इस ममत्वके परिणाममें) कितनी तीव्रता होगी !! समयसारजीमें ३८ वीं गाथा पूर्ण होनेके पश्चात् जयचंदजी पंडितजीने कुछएक बातें लिखी हैं। बातें तो किसी दूसरे कारणसे लिखी हैं परन्तु (लिखते-लिखते) दूसरी बात की है कि, यह नाटक समयसार है। नाटकमें शृंगार आदि आठ रस होते हैं। (उन सबमें) सबसे उत्कृष्ट रस तो शांतरस है। वह सर्व रसका राजा है। नाटक शब्दको लक्षमें रखकर इस प्रकारकी चर्चा शुरू की है। उसमेंसे 'रस' की बात पर आ गये हैं। ये आठ रस और नौ रस, इसमें रस माने क्या ? (ऐसा कहकर) रसकी परिभाषा की है। हमारे यहाँ भी ये प्रश्न उठता है कि, रस किस गुणकी पर्याय है ? तो कहते हैं कि ज्ञानमें जिस ज्ञेयके आनेपर उस ज्ञेय

सम्बन्धित लीनताके – मग्नताके परिणाम इतनी मात्रामें होवे कि दूसरा सब विस्मृत हो जाये, दूसरी कोई इच्छा न रहे – इसे रसका परिणाम कहा जाता है। ऐसी परिभाषा की है। अत: गुणभेदसे विचार करे तो ज्ञानमें किसी भी ज्ञेयके आनेपर – प्रतिबिंब आने पर उस ज्ञेय सम्बन्धित परिणाममें इतनी लीनता हो, इतनी लीनता रहे कि जिसके कारण दूसरी इच्छा ही न रहे – जिसके कारण दूसरी इच्छा उत्पन्न न हो! इसे रस कहते हैं।

हमारे यहाँ अवलोकनमें मुख्य विषय है कि, अपने रसका अवलोकन करना। जब तक आत्मामें आत्मबुद्धि नहीं होती तब तक देहादिसे लेकर सभी संयोगोंमें जीवको ममत्व होगा – अपनत्व हो ही जायेगा। (यह ममत्व) कितने रसपूर्वक होता है, इसपर इसकी बलवत्तरताका आधार है। जितना रस तीव्र उतनी उस परिणामकी शक्तिकी बलवत्तरता ! उस परिणाममें विशेष शक्ति है। परिणामकी शक्ति परिणामके रसमें है। इस तरह तीव्र रस होता है। (समयसारजीमें) बंध अधिकारमें विभावरसको बंधतत्त्व नाम दिया है। नौ तत्त्वोंमें तत्त्वदृष्टिसे बंधके स्वरूपका विचार किया जाये तो विभावरस या रागरसको बंध कहा है। क्योंकि वहाँ भावबंध लिया जाये तो तब जीव भावसे इतना बंधता है कि, ऐसे रसवाले परिणाममें दूसरी कोई स्मृति नहीं रहती। 'मैं आत्मा हूँ', 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा अगर हज़ार बार पढ़ा हो, सुना हो, विचार किया हो तो भी कहाँ चला जाता है, इसकी खबर भी नहीं रहती। कारण क्या है ? कि उस वक्त रस तीव्र हो गया। परमें अपनत्वका रस तीव्र हो गया। परमें अपनत्वका अनुभवरस (अर्थात्) अनुभव कर रहे हैं – ऐसा तीव्र रस हो गया। ये रस आत्माका घात करता है, बस !

मुमुक्षु :– अवलोकनकी बात अभी विचारमें आये उसके पहले तो खुद बह गया होता है !

पूज्य भाईश्री :– इसीलिये तो इस विषयका बहुत महत्त्व आना चाहिये। जन्म–मरणका प्रसंग हो तो आदमी कितना गंभीर हो जाता है! एक मृत्युका प्रसंग हो तो भी आदमी कितना गंभीर हो जाता है ! इतनी तो इस विषयकी गंभीरता आनी ही चाहिये वरना तो परिणाम काबूमें रहेंगे ही नहीं, जैसे ही उदय आया कि अंदर उलझकर डूब गया – एकाकार हो गया ही समझो ! क्योंकि उसी समय रस चालू हो जाता है – दूसरा समय नहीं लगता। ज्ञानमें ज्ञेय आया कि उसी समय तीव्र रसके परिणाम हो जायेंगे, उसी समय वह रसमें लीन हो जायेगा – एकाकार हो जायेगा। उसे दूसरा समय नहीं लगता – उसी समय रस चालू हो जाता है, ऐसी परिस्थिति है।

मुमुक्षु :– रुचि और रस साथमें ही होते हैं क्या?

पूज्य भाईश्री :– हाँ, रुचि और रस साथ–साथ ही काम करते हैं। (दोनों) अविनाभावी होते हैं। (वैसे तो) अलग–अलग गुणकी पर्याय है। रुचि श्रद्धाके भेदमें जाती है, जबकि रस ज्ञानपूर्वक चारित्रके भेदमें जाता है। लेकिन संसारदशामें एकसाथ तीनों गुण – श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रका उलटा काम जोरसे चलता है।

यहाँ ३३२ पत्रमें तो श्रीमद्जीने इतना ही लिया है कि, *'आरंभ और परिग्रहका मोह ज्यों–ज्यों मिटता है,...'* मोह ज्यों–ज्यों मिटता है मतलब अपनत्वकी पकड़ ढीली होती है। यहाँ इतनी बात लेना। जितनी तीव्रतासे आरंभ–परिग्रहके परिणाममें और प्रसंगमें वर्तता है, वह तीव्रता कम हो जाती है। (उसे ऐसा लगता है कि), ये मेरे नुकसानका कारण है, यही मुझे बंधनका कारण है, यही मुझे परिभ्रमणका कारण है। इसमें बहुत बड़ा नुकसान रहा हुआ है। इस तरह यदि परिणाममें मंदता आये तो मुमुक्षुताकी वृद्धि होवे और

इस तरह मुमुक्षुताकी वृद्धि होवे तो किसी एक स्तर पर ज्ञानदशामें प्रवेश होता है। लेकिन यदि मुमुक्षुता ही न आये या अल्प मुमुक्षुता हो और वहाँसे आगे नहीं बढ़ता हो तो प्राय: जीवके परिणाममें गिरावट ही आती है। आगे जाता हो तब तो बहुत अच्छी बात है परन्तु प्राय: जीवके परिणाममें गिरावट ही आती है। ज्यों-ज्यों समय जाता है त्यों-त्यों गिरावट आती है।

(यहाँ मुमुक्षुता वृद्धिगत होनेका) उपाय बतलाया है। मुमुक्षुता वृद्धिगत होनेके लिये या ज्ञानदशामें प्रवेश होनेके लिये, अपने उदयके संग-प्रसंगमें जो कुछ आरंभ-परिग्रहका प्रकार मौजूद है उसमें अपनत्वके परिणामका रस ठंडा हो जाना चाहिये। लोग जिसे लाभ कहते हैं वैसा चाहे कितना भी लाभ होनेकी परिस्थिति खड़ी हो जाये तो भी उसी वक्त ऐसा विचार करे कि, आत्मामें क्या आया ? और लोग जिसे नुकसान हो गया ऐसा कहते हैं, वैसा चाहे कोई भी प्रकार खड़ा हो, जैसे ये आदमी लूट गया ऐसा लोग कहते हैं, (उस वक्त यह देखना कि) मेरे आत्मामेंसे क्या गया ? इस तरह सीधा अवलोकनमें आये और जाँच करे कि, अभी (मेरेमेंसे) क्या गया? (तो) उसका जो रस है वह तीव्र नहीं होगा। और इस तरह ज्यों-ज्यों मोह मिटता है यानी कि तीव्रता घटती है त्यों-त्यों मुमुक्षुता वृद्धिगत होती है।

संयोगोंकी पकड़ उतनी की उतनी तीव्र रहे और बाहरमें कोई भी (धर्मसाधन) करे तो भी मुमुक्षुतामें कोई वृद्धि नहीं होती, ऐसा कहना है। यह अपनत्वका अभिमान, *'...अनंत कालसे परिचित यह अभिमान...'* है। इसका काफी अनुभव है। *'...परिचित...'* माने बहुत गाढ़ सम्बन्ध है, इस प्रकारके अभिमानके - अपनत्वके परिणाम प्रगाढ़ होनेसे, *'...प्राय: एकदम निवृत्त नहीं होता।'* इसलिये उसे (कमज़ोर करनेकी) practice करनेकी परिस्थिति पैदा होती है, लंबे काल तक इसकी practice होने पर इसकी निवृत्ति होनेकी परिस्थिति आती है। वैसे ही सीधा (अभिमान) नष्ट नहीं होगा। (वैसे यह) *'...प्राय: एकदम निवृत्त नहीं होता।'*

'इसलिये तन, मन, धन आदि जिनमें ममत्व रहता है उन्हें ज्ञानीको अर्पित किया जाता है;...' ज्ञानीके प्रति समर्पणमें दो प्रकार हैं। एक तो खुदको ज्ञानीकी महिमा भासित हुई है इसलिये उनके प्रति समर्पणबुद्धि आती है। लेकिन खुदको पता है कि ज्ञानी तो (किसी भी प्रकारकी) अपेक्षा नहीं रखते, निस्पृह होते हैं। जब उनकी अंतरंग स्थिति निस्पृह है, तो समर्पण करनेमें क्या है ? दूसरा पहलू यह है कि, (मुमुक्षुको लगता है कि), मुझे तो ममत्व मिटाना है कि नहीं ? सिर्फ समर्पणका सवाल नहीं है परन्तु इसमें जो मेरा अपनत्व है, मेरा जो अधिकार है, यह मुझे छोड़ना है; इस हेतुसे भी समर्पण किया जाता है। इस तरह दो पहलू लिये हैं। एक तो ज्ञानी सम्बन्धित महिमाका कारण है और दूसरा खुदके सम्बन्धमें विचार करे तो खुदको उस पर जो अपनी पकड़ है वह ढीली करनी है। पकड़ यूँ की यूँ रखें और ज्ञानीकी महिमा करें तो भी वह सब निष्फल जाता है, वह सब व्यर्थ जाता है। अत: यहाँ पर अस्ति-नास्ति दोनों तरफसे स्व-पर दोनों दिशामें किस तरह कार्य करना, दोनों दिशाओंमें किस तरह आगे बढ़ना - यह बात है।

मुमुक्षु :- धनके समर्पणको ही समर्पण कहा जाता है क्या ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, सिर्फ ऐसा नहीं है। तन, मन और धन तीनों लिये हैं।

मुमुक्षु :- समर्पण करते वक्त वह विचार नहीं करता कि, चलो ! देखे तो सही ये तन, मन, धन मेरे नहीं हैं।

पूज्य भाईश्री :- धनका समर्पण करते वक्त

विचार करता है क्या कि, ये मेरा नहीं है ? ऐसा विचार करता है ? प्रत्युत विचार तो ऐसा करता है कि, ये मेरा जो है उसमेंसे दे रहा हूँ। मेरा जितना है इसमेंसे अमुक अंशमें मुझे देना चाहिये। सब दे देंगे तो फिर हमारा (जीवन व्यवहार) कैसे चलेगा ? इसलिये जो है उसमेंसे थोड़ा देना तो चाहिये, लेकिन क्या अपनत्व रखकर ! इसमेंसे (खुदके लिये) थोड़ा-बहुत निकालकर ! यह कोई समर्पण करनेका लक्षण नहीं है। समर्पणबुद्धिका ये लक्षण ही नहीं है।

मुमुक्षु :- फिर तो तन, मन, धनका समर्पण कैसे करना ?

पूज्य भाईश्री :- समर्पणका अर्थ ऐसा है कि, उसमेंसे अपनत्व छोड़ देना। बाहरमें ज्ञानी तो खुदके लिये सर्वस्व हैं - सर्वस्वरूप हैं। (ज्ञानीको) स्वयंको तो कोई अपेक्षा नहीं है, आवश्यकता नहीं है, जरूरत नहीं है; जब तो ज्ञानी हुए हैं। ममत्व रखकर (ज्ञानी) हुए हैं या ममत्व छोड़कर हुए हैं ? वे तो ममत्व छोड़कर ज्ञानी हुए हैं। वे स्वयं तो मार्गके प्रकाश हेतु तन, मन, धनका यदि कोई सदुपयोग होता हो तो सूचन करते हैं, अंगुलिनिर्देश करते हैं। अनेक जीवोंको आत्मकल्याणके मार्ग पर आनेके निमित्तोंका उद्भव हो, निमित्तोंका सर्जन हो - ऐसे मार्गके प्रति वे निर्देश करते हैं कि, ये करने जैसा है - यहाँ ये जो है वह करने जैसा है, ये करने जैसा है। फिर बाहरमें ऐसा होना या नहीं होना ये कुदरतके अधीन है।

मुमुक्षु :- धनका समर्पण तो खयालमें आता है लेकिन तनका और मनका समर्पण कैसे होता है ?

पूज्य भाईश्री :- तनके (समर्पणमें) तो स्वयंके मन, वचन, कायाके योगदानका सवाल है। जैसे कोई कहता है कि, मैं पैसे तो दे दूँ लेकिन मेरे पास वक्त नहीं है। मुझे धंधा-व्यापारके कार्य इतने सारे हैं कि, (मेरे पास दूसरा कुछ काम करनेका समय नहीं है)। आप चाहो तो २५-५० हजार, लाख-दो लाख-पाँच लाख ले जाओ ! इसमें मुझे कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन मेरे पास समय नहीं है। मैं आ नहीं सकता। तो वहाँ उसके तन और मन - दोनोंका समर्पण नहीं है। तन-मन-धन शब्द तो तीन हैं, लेकिन वास्तवमें तो खुद पूरा-पूरा surrender होता है। जो ज्ञानीके चरणमें गया वह पूरा-पूरा गया, अधूरा नहीं गया। तन, मन, धनका मतलब पूरा का पूरा गया, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। 'मेरी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं, सिर्फ आपके विकल्प अनुसार चलना है।' फिर चाहे तनसे समर्पण कहो तो तनसे, मनसे कहो तो मनसे और धनसे कहो तो धनसे (मैं तैयार हूँ)।

ये तो एक पहलू लिया। जो आरंभ-परिग्रहमें और संयोगमें - प्रसंगमें खुद, (परपदार्थ) जो अन्य हैं, फिर भी अपनत्व रखकर प्रवृत्ति करता है, वह दर्शनमोह सहितकी पकड़ है। तेरी ये परपदार्थ परसे पकड़ ढीली होनी चाहिये। दर्शनमोह मंद हुए बिना स्वरूप निश्चय नहीं होगा और उसका अभाव हुए बिना अनुभव नहीं होगा। ये पूज्य गुरुदेवश्रीका २०३ नंबरका वचनामृत (सोनगढ़ नंदीश्वर जिनालयमें) संगेमरमरमें (उत्किर्ण) किया हुआ है।

अत: ममत्व मिटानेके हेतुसे (समर्पण करना है)। प्राय: जीव लोगोंमें दिखावा करनेके लिये समर्पण करता है। 'मैं दे रहा हूँ - मैं देनेवाला हूँ - ये लोग भी जाने।' इतना ही नहीं कहीं पर ऐसा छल भी पकड़ता है कि, 'इससे मुझे मेरी कोई प्रसिद्धि करनी नहीं हैं किन्तु दूसरोंको प्रेरणा मिले इसलिये मैं घोषणाके लिये कहता हूँ।' जबकि अन्दर दूसरी बात होती है। अरे भाई ! ये कोई चालाकी दिखानेका क्षेत्र नहीं है। ये कोई बुद्धिकी चालाकी दिखानेका क्षेत्र नहीं है। ये वक्र परिणाम हो गये। मार्ग तो सरल परिणामका है। 'मैं कुछ समर्पण करूँ तो यह लोग जानकर मेरी

विशेषता गिने' – ऐसा तो होना ही नहीं चाहिये। 'देनेका प्रसंग है – दिया जाता है, फिर भी इससे लोगोंमें मेरी महत्ता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि (जिनकी) महानता हो उनकी महानता गिनी जाये वह वाजिब है। मेरेमें तो अभी ऐसी कोई महानता आयी नहीं। लोगोंकी नजरमें बड़प्पन गिना जाये ऐसी कोई मेरी स्थिति है नहीं – मेरे आत्माकी ऐसी कोई स्थिति है नहीं।' इस तरह (सरल परिणामी जीव बातको) सीधी तरह लेता है और तभी बचता है। इसके बजाय पहलेसे ही लोकसंज्ञा खड़ी हो (तो कहाँसे बचेगा) ? अत: अपनत्व मिटाने हेतु (समर्पण होना चाहिये)।

यहाँ अपनत्वको अभिमान कहा है। *'अपनेपनका अभिमान'* कहा है। क्योंकि वहाँ अस्तित्व स्थापित कर देता है न ! अस्तित्व नहीं होने पर भी वहाँ अस्तित्व स्थापित करता है। जैसे कि, 'ये मेरा है' इसलिये अभिमान, ऐसा लिया है। इस अभिमानके त्याग हेतु ज्ञानीके प्रति समर्पण किया जाता है। प्राय: ज्ञानी इसे ग्रहण नहीं करते। ज्ञानी तो निस्पृह होनेसे इसे ग्रहण नहीं करते। *'परन्तु उनमेंसे ममत्वको दूर करनेका ही उपदेश देते हैं;...'* (वे भी ऐसा ही कहेंगे कि), भाई ! इसमेंसे ममत्व छोड़ने जैसा है। मुझे कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि हमने तो दूसरा रास्ता पकड़ा है और आप भी ममत्व छोड़कर ये रास्ते पर चले आओ ! सिर्फ 'इस रास्ते पर चले आओ!' इतना ही नहीं परन्तु ममत्व छोड़कर इस रास्ते पर चले आओ ! अपनत्व मिटाकर इस रास्ते पर चले आओ ! ऐसा उपदेश देते हैं। '...और करने योग्य भी यही है...' ज्ञानी जो कहते हैं वही कर्तव्य है – अपनत्व मिटाने योग्य है।

'...कि आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें...' यानी कि उदयके जो-जो प्रसंग बार-बार आते हैं, (उन प्रसंगोंमें) *'...आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें पुन: पुन: विचार करके उनमें ममत्व न होने दे;...'* देखो ! कैसी भाषा ली है ! *'...करने योग्य भी यही है कि आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें...'* (अर्थात्) जो-जो प्रसंग आये उसी वक्त अवलोकन करे कि, इसमें अपनत्वका भाव क्यों चल रहा है ? किस तरह चल रहा है ? कितने रससे चल रहा है ? उसमें मैं नहीं हूँ फिर भी (मेरे) ज्ञानमें उस (चीजके प्रति) अहंपनेका, अपनत्वका, भास्यमान होना क्यों हो रहा है ? ये ज्ञान ऐसी भ्रमणा क्यों करता है ? उसी वक्त उसे पकड़े। अपने उदयके वक्त जो अपनत्व हो रहा है उस भावकी जाँच करना। जाँच करना माने क्या ? अवलोकन करना माने क्या ? कि, ऐसा क्यों हुआ ? आत्मा, आत्मामें है, जानना-सिर्फ जानना इतना ही जिसका स्वरूप है, जहाँ मैं नहीं हूँ वहाँ 'ये मेरा' ऐसा क्यों दिखा ? दृष्टांतरूपसे ये परिवार जो है, इसके सदस्योंका ज्ञानमें ज्ञेयपना होता है। (परन्तु) उसमें 'ये मेरा' ऐसा क्यों लगा ? उसी वक्त यह पकड़े। इसमें अपनत्वका भाव क्यों हुआ ? ज्ञानमें यह भ्रांति क्यों हुई ? कैसे हुई ? इसमें क्या कारण है ? इतना देखेगा तो भी रसकी पकड़में फर्क पड़े बिना रहेगा नहीं। उसी वक्त यह practice चालू करे तो इसकी पकड़में फर्क पड़े बिना रहेगा नहीं। भीतरसे ऐसा फर्क पड़े बिना भले ही सब कुछ कर ले – चाहे कुछ भी क्यों न कर ले! सब कुछ कर ले, इसमें चाहे कुछ भी कर ले इसका कोई अर्थ नहीं।

मुमुक्षु :– तीव्र उदयके वक्त भी ऐसा कर सकते हैं ?

पूज्य भाईश्री :– तीव्र उदय किसको कहना है? भावमें (तीव्र उदय) कहना है या प्रसंगको कहना है ?

मुमुक्षु :– उदयके वक्त खयाल भी नहीं आता है।

पूज्य भाईश्री :– हाँ, मतलब भावमें तीव्रता आ गई न ! तब तो खुद भूल जाता है। जब भावमें तीव्रता

आती है तभी तो भूल जाता है। परन्तु भूल जाता है वह लंबे काल तक भूल जाता है। अब हम इसके पृथक्करणमें जाये, परिणामका analysis करें। किसीको तो (पूरा प्रसंग) यूँ का यूँ (बिना जागृति) ही चला जाता है। पूराका पूरा एकाकार हो जाता है। फिर जब भावमें मंदता आती है तब विचार आता है। किसीने ऐसा विचार कर रखा हो कि, परिणामकी तीव्रताके कारण अगर ये भूल गये तो बहुत बड़ा नुकसान है, तो वह तत्क्षण जागृत होता है, तो कोई थोड़ी क्षण पश्चात् जागृत होता है, तो कोई थोड़ी मिनटोंके बाद जागृत होता है। ऐसा बनता है कि नहीं बनता है ? अतः जितनी खुदकी जागृति इतनी मुमुक्षुता है। मुमुक्षुता कितनी ? कि जितनी खुदकी जागृति (इतनी मुमुक्षुता)! अगर जागृति नहीं हो तो मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा मानना। जितनी जागृति इतनी मुमुक्षुता है, सीधी बात तो ये है।

मुमुक्षु :- जागृति आनेके पश्चात् कार्यसिद्धि होगी ?

पूज्य भाईश्री :- अवश्य होगी, अवश्य होगी ! हुए बिना रहेगी नहीं ! सीधी बात है। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि उदय तीव्र आया और भावमें भी तीव्रता हो गई। वह तो उसका दुश्मन है न ! तो दुश्मनको मारा (भावमें तीव्रताकी मंदता हुई) यही कार्यसिद्धि है ! और कार्यसिद्धि कहाँ लेने जानी है ? उस वक्त तो यही कार्यसिद्धि है। ऐसे ही बैठा हो, शास्त्र पढ़ता हो तब तो विचार करे कि, शरीरमें ममता नहीं करनी है, अपनत्व नहीं करना है, आरंभ-परिग्रहमें अपनत्व नहीं करना है, लेकिन उस वक्त तेरे सामने कहाँ कोई (उदय) लड़ने आया है ? तब तो हवामें यूँ ही लाठी घुमाता है। परन्तु वास्तवमें तो दुश्मन मारनेके लिये आये तब लाठी घुमानेकी जरूरत है। लड़ाईके वक्त लाठी घुमाये तो बच सके। बाकी घरमें बैठे-बैठे लाठीके दाव-पेच करे, वह कोई लड़ाईमें लाभका कारण नहीं होता। ठीक है, थोड़ी practice होगी। लेकिन जब वास्तवमें इसकी जरूरत हो तब इसका उपयोग नहीं हो सके तो सीखा हुआ बेकार है। लाठी घुमाना तो सीख लिया लेकिन दुश्मन आया तब मार खाया ! तो वह कोई वास्तविकरूपसे नहीं सीखा। क्योंकि जरूरत तो उसी वक्त होती है। वैसे उदयके वक्त ही जरूरत होती है।

यहाँ ये नहीं कहते कि, तू शास्त्र पढ़कर आरंभ-परिग्रहमें अपनत्व नहीं है, ऐसा विचार करते रहना। ऐसा यहाँ श्रीमद्जी नहीं कहते हैं। क्या कहते हैं ? कि, *'...आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें...'* जब प्रसंग आये तब तू ऐसा करना, ऐसा कहते हैं। तुझे फुरसद मिले, निवृत्ति मिले तब घंटा-दो घंटा शास्त्र लेकर बैठना और उस वक्त विचार करना कि, 'मैं ज्ञायक आत्मा हूँ, देहादि कोई संयोग मेरे नहीं हैं' - ऐसा नहीं कहते। (सिर्फ) स्वाध्याय करना ऐसा नहीं कहते हैं। जब प्रसंग आये तब तू बराबर इसका सामना कर ! उस प्रसंगमें विचार करके उसमें अपनत्व न होने दे। अब, अपनत्व कौन नहीं होने देगा ? (कि जो मुमुक्षु जागृत होगा वह नहीं होने देगा)।

'आरंभ-परिग्रहको वारंवारके प्रसंगमें पुनः पुनः विचार करके उनमें ममत्व न होने दे; तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।' यह इसका फल है। यदि ममत्व नहीं होने दे तो मुमुक्षुकी भूमिकामें निर्मलता आती है। अपनत्वका रस या दर्शनमोहका रस मंद होता है, तब जो निर्मलता आती है वह निर्मलता सर्व प्रथम ज्ञानमें आती है। तब जीव अपने स्वरूपका यथातथ्य निश्चय कर सकता है, भास्यमान कर सकता है। वरना जीव उघाड़ज्ञानमें तो समझ लेता है कि, आत्मा ऐसा है, आत्मा वैसा है... अनंत गुणका समूह है, असंख्य प्रदेशी है... ऐसा है, वैसा है... (ये सब समझ तो लेता है किन्तु) उस विषयमें उसे कुछ (भास्यमानपना)

नहीं लगता, क्योंकि निर्मलता नहीं है। (परपदार्थमें अपनत्व नहीं होने देता हो) तब मुमुक्षुता निर्मल होती है। जिसकी मुमुक्षुता निर्मल हो वह मुमुक्षु आगे बढ़कर ज्ञानदशामें प्रवेश कर सकता है। यदि मुमुक्षुतामें ही निर्मलता न हो, मलिनता हो तो ज्ञानदशा आनेका अवसर नहीं है।

इसलिये इसे खोल-खोलकर बात करते हैं। अपनी दशाके साथ मिलान करनेके लिये सब बातें हैं। शास्त्रमें जितनी दशा सम्बन्धित बातें हैं, वह मिलान करनेके लिये हैं। खुद अपने आत्मलक्षसे-आत्महितके लक्षसे मिलान करे और जहाँ भूल करता हो वहाँ बराबर अपनी practice चालू कर दे कि, इस जगह मेरी भूल होती है, इस प्रसंगमें मेरी भूल होती है, इस कारणसे मेरी भूल होती है, ऐसा लगनेसे मेरी भूल होती है, (भ्रांतिगतरूपसे) इस तरह सुख लगता है, इस तरह शांति लगती है, इस तरह लाभ हुआ लगता है – इस तरह परिणाममें कोई न कोई प्रकार तो खड़ा होता ही है। ये ३३२ पत्र पूरा हुआ।

*

(पृष्ठ संख्या २ से आगे..)

कोई शरीरको ज्यादा लाभ नहीं हो जाता। आत्माको लाभ होनेका तो सवाल ही नहीं है। अपितु नुकसान होता है।

यहाँ पर तो कहते हैं कि, वह आपत्ति और बोझ-सा लगता है। आहार लेना, दवाई लेनी, वैसे तो आहार भी दवाई ही तो है न? उसे ग्रहण करना भी उपाधिका कार्य लगता है। ज्ञानीकी भावना तो ऐसी है कि परिपूर्ण निरुपाधिक भावमें अच्छी तरह जम जाना, लीन हो जाना, इसके अलावा इन्हें कुछ नहीं सुहाता। क्योंकि इसके अलावा कुछ भी ग्रहण करनेके परिणाम अशांत परिणाम हैं, आकुलतायुक्त परिणाम हैं। उपाधिके परिणाम हैं सो आकुलतायुक्त परिणाम हैं। और अपने स्वभावसे विरुद्ध जातिके हैं। स्वयं निरुपाधिकस्वभावी है इसके आगे ये सब विरुद्ध जातिवाले हैं। यानी कि, खुदके विरोधी हैं। अपने स्वभावके विरोधी हैं। विचित्रता तो ऐसी है कि, वैसे कोई बाहरमें खुदका विरोधी हो तो उसे द्वेषकी नज़रसे देखेगा। बाहरमें कोई व्यक्ति अपना विरोधी होगा तो उसे द्वेषभावसे देखेगा किन्तु अपने स्वभावसे, अपनी जातिसे विरुद्ध खुदके ही परिणाम होते हैं उन्हें राग और रुचिपूर्वक देखता है! कैसी विचित्रता है! कोई विरोधीसे आलिंगन करता है? यह तो वैसी बात हो गई। वास्तवमें तो विरोधी लगता नहीं है; जीव मानता है कि, जितना मिले उतना लाभ जितना अधिक मिले उतना अधिक लाभ, जितना ज्यादा मिले अच्छा है, यहाँ उसे कहते हैं, वह लाभ नहीं है अपितु तेरे उपाधिके परिणाम नुकसानकारक हैं, लाभ तो नहीं परन्तु नुकसान करते हैं।

(प्रवचनांश...श्री 'बहिनश्री के वचनामृत' बोल-५३, श्री'अध्यात्म सुधा' भाग – २, पन्ना-१८७ से १८९)

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (फरवरी-२०२५, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि
श्रीमती वर्षाबेन हर्षदभाई हेमाणी, भावनगर
की ओर से ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है। अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा

मंगलवाणी-सीडी-१५-A

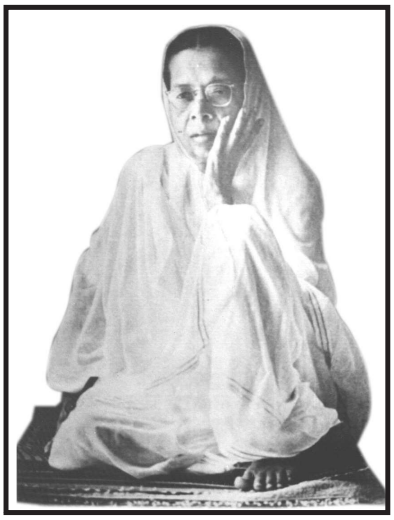

मुमुक्षु :- .. सब जिम्मेदारी जीव की ही है, स्वयं को ही सब करने जैसी है इस बात का तो स्वीकार करते हैं। परन्तु कार्य किसप्रकार करना यह समझ में नहीं आता और उसकी उलझन होती है। इसलिये बार-बार प्रश्न करने का मन होता है कि करना है स्वयं को, लेकिन करना कैसे?

समाधान :- करना कैसे? गुरुदेवने बहुत कहा है। कहने में कुछ बाकी नहीं रखा। गुरुदेवने तो बहुत कहा है। कैसे करना? अपना स्वभाव पहचानकर करना। स्वभाव पहचाननेसे होता है। बिना पहचान होता नहीं। अन्दरसे उतनी लगनी चाहिये, पहचान करनी चाहिये। यह स्वभाव, चैतन्य का स्वभाव क्या है? यह जड़ कुछ जानता नहीं। मैं जाननेवाला भिन्न हूँ। इस जाननेवाले को पहचाने बिना होता नहीं। बाहरसे सब करे लेकिन अंतर में जो चैतन्य स्वरूप आत्मा का है उसे पहचाने तब होता है। उसके सिवा होता नहीं। वही करना है, दूसरा कुछ नहीं करना है। एक आत्मा को पहचानना। सब जाना लेकिन एक आत्मा को नहीं जाना तो वह सब निष्फल जाता है।

एक आत्मा को जाने और बाहर खास कुछ नहीं आता हो तो एक आत्मा को जाने तो सब जान लिया। आत्मा को जाने, उसकी श्रद्धा करे, ज्ञान करे, उसमें लीनता करे तो आत्मा को जाननेसे उसमें सब आ जाता है। सब उसमें समा जाता है। उसमें लीनता करते-करते जो ज्ञानस्वभाव पूर्ण स्वभाव है वह स्वभाव उसमेंसे प्रगट होता है। उसका केवलज्ञान वीतरागस्वभाव उसमेंसे प्रगट होता है। बाहर का सब जाना, लेकिन एक आत्मा को नहीं जाना तो वह सब सफल नहीं होता। एक आत्मा को जाने तो सब सफल होता है। आत्मा का जानना, आत्मा की श्रद्धा करनी, आत्मा में लीनता करनी। लेकिन वह हो कब? कि बाहरसे उसे रस छूटे, आत्मा का रस लगे, आत्मा की महिमा लगे, आत्मा की तमन्ना लगे, उसके बारंबार विचार करे, उसके बिना चैन पड़े नहीं, लगनी लगे तो हो।

मुमुक्षु :- गुरुदेवने माताजी समझन तो करवायी परन्तु रुचि होने में गुरुदेव की मदद..? लीनता करवाने में..?

समाधान :- समझन करे। रुचि तो खुद को करनी है। जिसे रुचि हो उसे वह समझता है। गुरुदेवने समझाया बहुत, लेकिन उसकी रुचि लगनी वह तो स्वयं के हाथ की बात है। वे तो रुचि में भी निमित्त थे। गुरुदेव की वाणी तो प्रबल थी। परन्तु तैयारी तो स्वंय को करनी पड़ती है। उपादान की तैयारी तो खुद को ही करनी पड़ती है। भगवान के समवसरण में जाता है, भगवान की वाणी का निमित्त प्रबल है, तो भी तैयारी तो खुद को करनी पड़ती है। स्वयं का उपादान तैयार हो तो भगवान की वाणी निमित्तरूप होती है। भगवान की वाणी का निमित्त तो प्रबल है। लेकिन करना तो खुद को पड़ता है। रुचि भी खुद को ही करनी पड़ती है।

(तत्त्वचर्चाका शेष अंश आगेके अंकमें...)

'द्रव्यद्रष्टि प्रकाश'मे से 'मार्गदर्शन' संबंधित पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजीके वचनामृत

पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। – ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलंबन नहीं होना चाहिए। और 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं' – ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जायेगी। (विकल्पात्मक निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणाम की मुख्यता नहीं होनी चाहिए; परंतु अपरिणामी निजस्वरूप के प्रति पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वजन रह जाता है तो वह भी ध्रुव स्वभाव के अवलंबन लेने हेतु प्रतिकूल है।) (१६०)

*

चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन 'त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात क़ायम रख करके ही अन्य सब बाते हैं – त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। (१६३)

*

कोई तो धारणा कर लेते हैं; कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई ! धारणा करके क्या तेरे को किसीको दिखाना है कि 'मैं जानकार हूँ' ?

प्रश्न :– लेकिन अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न!

उत्तर :– धारणा सहज होती है। 'मैं धारणा कर लूँ ' – यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर जो वज़न ही नहीं आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न ! – ऐसा वज़न नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। (स्वरूप की प्राप्ति के लिए विधि–विषयक जानकारी की धारणा होती है, फिर भी ऐसी सही धारणापर वज़न जानेवाले के अभिप्राय में पर्याय का आश्रय करने का अभिप्राय जो अनादि से है वह चालू रह जाता है और वह अंतर्मुखता होनेमें बाधक कारण बन जाता है।)

(१७७)

*

प्रश्न :– चिंतन करना (चाहिए) क्या ?

उत्तर :– चिंतन भी भट्टी–सा लगना चाहिए; वह भी दुःखभाव लगे तो वहाँसे हट सकेंगे, नहीं तो वहाँसे क्यों खिसकैंगे ? मार्ग में आता है तो ठीक; किन्तु उसको दुःखभाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। 'चिंतन जहाँसे उठता है.... उस भूमिमें जमे रहो।'

(१७८)

*

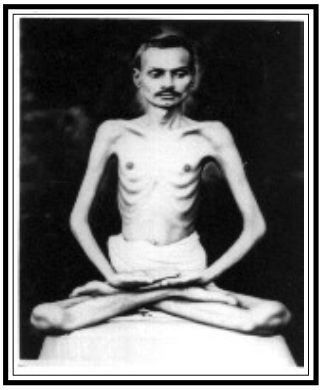

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्रो

पत्रांक– ३८१

'सूयगडांगसूत्र' का योग हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उदकपेढालवाला अध्ययन पढ़नेका अभ्यास रखिये। तथा 'उत्तराध्ययन' के कुछ एक वैराग्यादिक चरित्रवाले अध्ययन पढ़ते रहिये, और प्रभातमें जल्दी उठनेकी आदत रखिये, एकांतमें स्थिर बैठनेका अभ्यास रखिये। माया अर्थात् जगत, लोकका जिनमें अधिक वर्णन किया है वैसी पुस्तकें पढ़नेकी अपेक्षा, जिनमें विशेषतः सत्पुरुषोंके चरित्र अथवा वैराग्यकथाएँ है ऐसी पुस्तकें पढनेका भाव रखिये।

*

पत्रांक– ३८२

जिससे वैराग्यकी वृद्धि हो उसका अध्ययन विशेषरूपसे रखना; मतमतांतरका त्याग करना; और जिससे मतमतांतरकी वृद्धि हो वैसा पठन नहीं करना। असत्संगादिमें उत्पन्न होती हुई रुचि दूर होनेका विचार वारंवार करना योग्य है।

*

पत्रांक– ३८३

बंबई, जेठ, १९४८

जो विचारवान पुरुषको सर्वथा क्लेशरूप भासता है, ऐसे इस संसारमें अब फिर आत्मभावसे जन्म न लेनेकी निश्चल प्रतिज्ञा है। अब आगे तीनों कालमें इस संसारका स्वरूप अन्यरूपसे भासमान होने योग्य नहीं है, और भासित हो ऐसा तीनों कालमें सम्भव नहीं है।

यहाँ आत्मभावसे समाधि है, उदयभावके प्रति उपाधि रहती है।

श्री तीर्थंकरने तेरहवें गुणस्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निम्नानुसार स्वरूप कहा है–

जिसने आत्मभावके लिये सर्व संसार संवृत्त किया है, अर्थात् जिसके प्रति सर्व संसारकी इच्छाके आनेका निरोध हुआ है, ऐसे निर्ग्रंथको–सत्पुरुषको–तेरहवें गुणस्थानकमें कहना योग्य है। मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण–त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्धशंकादिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनको संकोचनेवाला, वचनको संकोचनेवाला, कायाको संकोचनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके संयमसे ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा रहनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला और उपयोगपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेनेवाला, आँखको एक निमिषमात्र भी उपयोगरहित न चलानेवाला अथवा उपयोगरहित जिसकी क्रिया नहीं है ऐसे इस निर्ग्रंथको एक समयमें क्रियाका बंध होता है, दूसरे समयमें क्रिया भोगी जाती है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित होता है, अर्थात् चौथे समयमें वह क्रियासंबंधी सर्व चेष्टासे निवृत्त होता है। श्री तीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यंत निश्चल,

(अपूर्ण)

मुनिहृदयसे प्रवाहित आत्मस्वरूपका अमृत...

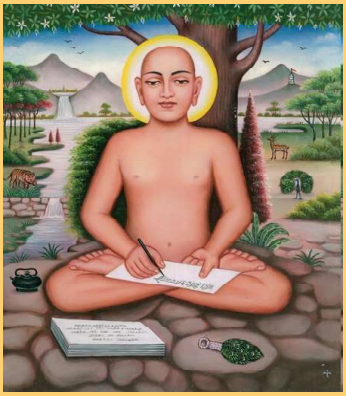

* हे भव्य! लोकमें नमन करनेयोग्य पुरुष भी जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यानेयोग्य पुरुष भी जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं तथा स्तुति करनेयोग्य पुरुष भी जिसकी स्तुति करते हैं – ऐसा परमात्मा इस देह में ही विराजता है। उसको जैसे भी बने वैसे जान। १

(श्री कुन्दकुन्द आचार्य, मोक्षपाहुड, गाथा–१०३)

❊

* जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासनेयोग्य हूँ, अन्य कोई उपास्य नहीं है – ऐसी वस्तुस्थिति है। २

(श्री पूज्यपाद आचार्य, समाधितन्त्र, श्लोक–३१)

❊

* जो कोई मोक्षकी इच्छा रखकर परद्रव्यकी उपासना करता है – परद्रव्यका भक्त और सेवक बनकर उसके ही पीछे डोलता है – वह मूढ़ – जन हिमवान पर्वत पर चढ़नेका इच्छुक होते हुए भी समुद्रकी ओर चला जाता है – ऐसा मैं मानता हूँ। ३

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार, जीव अधिकार, गाथा–५०)

❊

* जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ जो कि अविनाशी देव स्वरूप हूँ, जो मैं हूँ, वही उत्कृष्ट परमात्मा है। इस प्रकार निःसन्देह तू भावना कर। ४

(श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अधिकार–२, श्लोक–१६५–१७५)

❊

* जो सिद्ध भगवान द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित हैं, केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे पूर्ण हैं, वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक हूँ और निरावलम्बी हूँ। ५

(श्री देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, गाथा–२७)

❊

* सिद्ध भगवन्त, सिद्धपनेके कारण, साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्दके स्थान पर हैं,जिनके स्वुरूपका संसारी भव्य जीव चिन्तवन करके, उसी समान अपने स्वरूपको ध्याकर, उन्हीं जैसे हो जाते हैं और चारों गतियोंसे विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष है, उसको पाते हैं। ६

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, समयसार गाथा १ टीका)

❊

* जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है – यह समझकर हे योगिन् अन्य कुछ भी विकल्प मत करो। ७

(श्री योगीन्द्रदेव, योगसार, गाथा–२२)

❊

('परमागम–चिंतामणि' से साभार उद्धृत)

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Title Code : GUJHIN00241
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

Printed Edition : **3650**
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...
Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

mejuni.com 9374825041